International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 07 Issue 11 Ver.I || November 2018 || PP. 86-90

"अष्टांग योग में वैराग्य साधना"

डॉ. सारिका शुक्ला
सहायक प्राध्यापक
स्वामी विवेकानंद विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत योग दर्शन में वर्णित योग–साधना मार्ग सबसे प्रशस्त और पूर्ण माना जाता हैं उन्होंने चित्त की वृत्तियों के निरोध को (पूर्ण निरोध को) योग कहा है, साथ ही चित्त की वृत्तियों विरोध की पूर्व पीठिका को अर्थात् एकाग्रता की क्रमिक छः स्थितियों को भी सम्प्रज्ञात समाधि कहते हुए, उसे भी योग की (समाधि की) सीमा में ही स्वीकार किया है और यहाँ तक पहुंचने के लिए अभ्यास और वैराग्य की साधना का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग माने है। अनेक बार लोग भ्रम कर बैठते हैं कि अभ्यास और वैराग्य की साधना अलग है और अष्टांग योग की अलग। एक विद्वान ने तो अपने ग्रन्थ में यहाँ तक लिख दिया, कि महिर्ष पतंजलि ने अभ्यास वैराग्य की साधना विधि के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट संकेत ही नहीं किया है। जबकि मेरा मानना है कि पतंजलि ने अष्टांग योग के नाम से अभ्यास और वैराग्य की साधना का ही विस्तार किया है। दूसरे शब्दों में अष्टांग योग के वर्णन के रूप में उन्होंने अभ्यास वैराग्य की साधना की विस्तृत व्याख्या की है।

योग के पूर्व परिगणित आठ अंगों में पतंजलि ने आसन प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि को उत्तरोत्तर को पूर्व के अभ्यास में सफल होने पर ही करणीय माना है। अर्थात् आसन सिद्ध होने पर प्राणायाम की योग्यता बनती है। प्राणायाम में सफलता प्राप्त करके साधक धारणा की साधना की योग्यता प्राप्त प्राणायाम में सफलता प्राप्त करके साधक धारणा की साधना की योग्यता प्राप्त करता है और धारणा, ध्यान और समाधि चित्त की एकाग्रता की उत्तरोत्तर स्थितियाँ है। **तस्मिन्त्सतिश्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। ततः क्षीयते प्रकाशाववरणाम्। धारणासु च योग्यता मनसः। (2:49, 52–53) देशबन्धचित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। तदेवार्थ मात्र–निर्मासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।** योगसूत्र 3 (1–3) अभ्यास के प्रसंग में एक क्रम होता है। यह अभ्यास चाहे शारीरिक साधना के प्रसंग में हो, चाहे मानसिक और चाहे, बौद्धिक। यहां आसन, प्राणायाम धारणा ध्यान और समाधि में एकक्रम हैं, प्रत्येक पूर्व को परवर्त्ती (वाद की) साधना को करने में पृष्ठ भूमि तैयार करने वाला स्वीकार किया गया है। प्रथम में सिद्धि मिलने पर परवर्त्ती की साधना प्रारंभ होती है। अन्तिम तीन धारणा, ध्यान और समाधि तो स्पष्टरूप से पूर्व में परिपक्वता को परवर्त्ती की प्रस्तावना स्वीकार किया गया है। अभ्यास से किसी भी कार्य में क्रमशः दक्षता प्राप्त होती है, और यहां आसन की दक्षता के बाद प्राणायाम की योग्यता, प्राणायाम में दक्षता से धारणा की योग्यता एवं धारणा, ध्यान समाधि को उत्तरोत्तर दक्षता रूप स्वीकार किया गया है, अतः इन पांचों को एक समूह की साधना मानना अनुचित न होगा। और एक ही दक्षता को उत्तरोत्तर की पूर्व पीठिका के रूप में भी स्वीकार किया गया है, जो अभ्यास की प्रकृति है, इसलिए इन पांचों को अभ्यास साधना की व्याख्या स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इन पांच साधनाओं में प्रथम आसन का सम्बन्ध मुख्य रूप से स्थूल शरीर के स्थूल भाग अर्थात् पाचन संस्थान, अस्थि, संस्था, श्वसन, संस्थान, चेतना संस्थान एवं मूत्र संस्थान (मल, मूत्र, वीर्य एवं गर्भाश्य आदि) से है, दूसरे शब्दों में आसन इन संस्थानों के अंग प्रत्यंड्गों को प्रभावित करते है, जबकि प्राणायाम मुख्य रूप से स्थूल शरीर के सूक्ष्म भागों को

प्रभावित करता है शरीर के मूल, उपादान, जिन्हें आयुर्वेद विज्ञान में दोष अर्थात् वात, पित्त, कफ के नाम से जाना जाता है को नस नाड़ियों को शुद्ध करके शरीर की सभी क्रिया–प्रक्रिया को प्रभावित करता है। जबकि धारणा, ध्यान और समाधि मुख्य रूप से अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को प्रभावित करके सभी प्राणों (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नामक मुख्य प्राणों और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त धनजंय नामक उपप्राणों को प्रभावित और नियन्त्रित करते है।

इन पांच योगाङ्गों के अतिरिक्त तीन अन्य योगंग है। यम, नियम और प्रत्याहार इन्हें वैराग्य साधना के अंग अथवा वैराग्य की व्याख्या कहना चाहूंगी। इनमें यम को सबसे सूक्ष्म और गम्भीर साधन एवं प्रत्याहार को सबसे स्थूल कहा जा सकता है। प्रत्याहार को वैराग्य का अंग मानने में किसी को सन्देह न होगा, क्योंकि प्रत्याहार का सहज अर्थ है, इन्द्रियों को निग्रह। महर्षि पतजंलि ने स्वयं प्रत्याहार की परिभाषा की है। **"स्व विषया सम्प्रायोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः"** (योग सूत्र 2:54) अर्थात् इन्द्रियों का उनके अपने–अपने विषयों से न जुड़ना फलतः चित्त का अपने निजनिर्मल स्वरूप में ही बना रहना इन्द्रियों को प्रत्याहार है। स्मरणीय है कि सांख्य और योग दर्शनों में चित्त की शुद्ध स्फटिक की भाँति निर्मल माना जाता है मन की सहायता से इन्द्रिय जब विषयों के सम्पर्क में आती है तो वे उन विषयों को आत्मा के भोग के लिए चित्त में प्रस्तुत करती हैं, तो चित्त विषयाकार (वृत्तियों के स्वरूप में) हो जाता है, और जब इन्द्रियां विषयों के सम्पर्क में नहीं होती है, तो स्वभावतः चित्त अपने शुद्ध स्वरूप में अर्थात् निर्मल ही रहेगा। इसलिए पतजंलि ने सूत्र में "चित्तस्य स्वरूपाकार इव" शब्द समूह से चित्त की स्थिति की ओर भी संकेत कर दिया है।

स्मरणीय है कि **"कठ उपनिषद में इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयास्तेबु गोचरन्। आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीविणः।"** कठ (1–3–4) इन्द्रियों को हय अर्थात् घोड़े के रूपित करते हुए उन्हें विषयों की ओर भागने वाला कहा गया है इन्हीं इन्द्रियों को विषयों से विमुखता बिना उत्कृष्ट ज्ञान के माध्यम से विषयों की अनित्यता और निरर्थकता ही नहीं अपितु परिणामतः पीड़ा दायकता और शक्ति क्षयकारिता का बोध हुए बिना नहीं हो सकती। कठ उपनिषद् के नचिकेता द्वारा आत्म ज्ञान विषयक वरदान मांगने पर यम द्वारा उससे दूर रखने हेतु दिये गये विविध भोग सम्बन्धी प्रलोभनों को नकारते हुए नर्चिकता कहता है –

श्वोभावाः मर्त्यस्य यदन्तकेतेत् सर्वोन्द्रियाणां जरयन्तितेजः।

अपि सर्वं जीवितं स्वरूपमेव तवैव बाह्मस्तव नृत्यगीते।। (क0 1:1:26)

अर्थात् ये सभी भोग साधन अनित्य है इतना ही नहीं ये भोग के साधन इन्द्रियों के तेज को नष्ट करते हैं, इसलिए ये तुमको ही मुबारक हो। तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरूष इन्द्रियों के विषयों के भोग की तुच्छ ही नहीं हेय समझता है, स्वीकार योग्य नहीं मानता और भोग साधनों के प्रति लालसा का अभाव और उनको त्याग देने, उनसे दूर रहने की भावना का नाम ही तो वैराग्य है। इसलिए प्रत्याहार को वैराग्य साधना का अंग मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

नियम पांच माने गये है,– शौच, संतोष, तापस, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये सब भी वैराग्य साधना के ही प्रकार है किन्तु इनमें वैराग्य कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है नियमों प्रथम शौच का अर्थ शुद्धता के लिए तन, मन से तैयार रहना और प्रयत्न करना है। शुद्धता बाह्म और आभ्यन्तर भेद में दो प्रकार की हो सकती है। वैराग्य भावना के बिना इन दोनों प्रकार की शुद्धता हेतु प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। इसे हम पतजंलि द्वारा संकेतिक शौच साधना के कल से सफलते का प्रयत्न करना अधिक सरल है। उन्होंने शौच के बाह्म आभ्यन्तर भेदों का स्पष्ट कथन किये बिना ही दोनों के अलग–अलग फल दिये हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रथम फल है, **"शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैश्संसर्गः।"**

(योगसूत्र 2:40) अर्थात् शौच की साधना के फल स्वरूप अपने अंगों के प्रति भी घृणा उत्पन्न हो जाती है और दूसरों के प्रति संसर्ग का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐन्द्रिक सुख के लिए, दूसरों के शरीरत्ये (आलिङ्गन चुम्बन आदि के लिए) संसर्ग की कामना योग या राग कहा जाता है। इसकी विपरीत स्थिति का नाम ही तो वैराग्य कहलाता है।

आन्तर शौच शम दम आदि द्वारा दूसरे शब्दों में राग, द्वेष आदि के निवारण द्वारा, बुद्धि आदि की शुद्धि कहलाती है, जिसका फल महर्षि पतजंलि ने **"सत्वशुद्धि सौमन स्यैकाग्रयेन्द्रिय जयत्वात्मदर्शन योग्यात्वानि च"** सूत्र द्वारा दिया है, जिसका तात्पर्य है कि इसके फलस्वरूप साधक के चित्त की शुद्धि होती है, मन, शान्त और विकारों से रहित हो जाता है एकाग्रता प्राप्त होती है। साधक इन्द्रियों पर विजय पा लेता है और उसे आत्म साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त हो जाती है। क्योंकि यह सभी परिणाम राग आदि मन के मलों के निवारण से प्राप्त होता है, अतः आन्तर शौच को भी वैराग्य साधना का अंग कहा जायेगा।

संतोष का अर्थ सभी परिस्थितियों में भोग साधनों के रहने पर अथवा उनका सर्वथा अभाव रहने पर भी पूर्णतया प्रसन्न रहना। मनुष्य के मन में जब तक तृष्णा रहती है तब तक उसे चाहे जितना प्राप्त रहे व्यक्ति में पूर्ण प्रसन्नता नहीं होती उसमे दरिद्रता बनी रहती है। कहा भी है, **"को वा दरिद्रों हि विशाल तृष्णाः।"** (प्रश्नोत्तरी शंकराचार्य कृत) क्योंकि तृष्णा का अभाव ही वैराग्य कहलाता है, अतः संतोष साधना का भी वैराग्य साधना का प्रकार मानने में किसी भी कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए।

तपस् का सामान्यतः तात्पर्य शीत–ताप क्षुव्या–पिपासा सुख–दुःख आदि द्वन्दों को सहना माना जाता है। यहाँ भी साधनों और अनुकूल परिस्थिति के प्रति राग का अभाव होना आवश्यक है। इसलिए इस साधना को भी वैराग्य साधना ही कहना चाहिए। यद्यपि यह वैराग्य साधना सन्तोष की अपेक्षास्थूल कही जा सकती है। वस्तुतः केवल द्वन्दों को सहन करना, तपस् का स्थूल रूप है। मन में सुख भोग की लालसा रहने पर भी किसी कारण वश (दम्भ आदि के कारण) व्यक्ति तपस् की साधना में प्रवृत्त भी हो सकता है। इस स्थिति में साधक में विषय भोगों की लालसा बनी रहती है। इसलिए उसे वैराग्य साधना में सम्मिलित करना उचित न होगा। **"भगवद्गीता में कहा भी है विषयाः विनिर्वत्तन्ने निराछास्य देहिनः।"** रसवर्जम (अ. 2/59)

तपस् की उच्च कोटि की साधना वह होगी कि जब साधक प्रदर्शन, दम्भ आदि के बिना कष्टों को रहने में प्रवृत्त होता है, अथवा वह यह विश्वास रखता है, कि ये विपरीत परिस्थितियों मेरा उसी प्रकार निर्माण करने वाली है और मेरा निर्माण करेगी। जिस प्रकार एक वृक्ष की कटाई, छटाई उसे पुष्ट और अधिकाधिक सुन्दर बनाती है। जिस प्रकार तपाने से सुवर्ण पूर्ण मल रहित होकर कुन्दन हो जाता है, उसी प्रकार में साधक भी तपस् के प्रभाव से पूर्ण निर्मल और दिव्य स्वरूप वाला बन जाऊंगा। इस भावना के द्वारा प्रेरित होकर तपस् उच्च कोटि का माना जायेगा। तापस् की सामान्य और उच्च दोनों ही कोटियां वैराग्य की साधना है, किन्तु दम्भ के लिए की गई साधना को अथवा किसी लौकिक (भौतिक) उपलब्धि के लिए किया जाने वाला वैराग्य की साधना न छोड़कर स्वार्थ की साधना माना जाएगा।

नियम चतुर्थ स्वाध्याय वैराग्य साधना की पृष्ठभूमि बनाता है चित्त में यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करके उसे राग, द्वेष रहित करता है, तृष्णा का क्षय करता है इसलिए वह भी वैराग्य की पूर्व पीठिका निर्माण करता है अतः उसे भी वैराग्य साधना का अंग मानना चाहिए। योग दर्शन के भाष्यकार व्यास ने प्रणव आदि मन्तों के जप को भी स्वाध्याय माना है तथा पतजंलि ने **"स्वाध्यादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।"** (यो.सू. 2/44) सूत्र द्वारा स्वाध्याय के फलस्वरूप अभीष्ट देव विशेष की अथवा उसकी कृपा की प्राप्ति होती है, यह स्वीकार किया है। इष्ट देवता की प्राप्ति अथवा उसकी निरन्तर कृपा प्राप्ति का बोध होने पर स्वाभाविक ही है, कि साधक लोभ आदि तृष्णा के विकारों से मुक्त हो जाए, वह वैराग्य की ही स्थिति है, जो स्वाध्याय द्वारा प्राप्त हुई है। अतः स्वाध्याय की वैराग्य की साधना से बाहर नहीं रख सकते। नियमों में अन्तिम

(पंचम) ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है परम प्रभु, ईश्वर को पूर्ण समर्पित हो जाना। समर्पित व्यक्ति समस्त विवेक प्रेरित कर्मों को करता हुआ, उन्हें और उनके फल को ईश्वर को ही समर्पित कर देता है। भगवद्गीता में कहा भी है, **"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङग त्यक्ताथनञ्जय"** (5/10) तथा **"सर्व कर्माणि मनसा सन्यस्थास्ते सुखंवशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्"** (5/13) अर्थात् जो साधक कर्म और उसके कलो को परब्रह्म को (ईश्वर को) समर्पित होकर कर्म करता है। इत्यादि एवं जो व्यक्ति एवं जो व्यक्ति मन से अपने सभी कर्मों को परम प्रभु को समर्पित करते हुए करता है, वह इस नवद्वार वाले शरीर में रहता हुआ न कुछ करता है, न कराता है, वही साधक सदा सुखी रहता है। तात्पर्य यह है कि समस्त कर्मों के समर्पण के बाद कर्मों के फल से लगाव का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। और सर्वविध सुखों के प्रति आसक्ति के रहते हुए कर्म फलों में त्याग की कल्पना भी मन में नहीं आ सकती और सुखों के प्रति आसक्ति का अभाव ही वैराग्य है, अतः ईश्वर प्रणिधानको भी वैराग्य साधना के अंग के रूप में ही स्वीकार करना अनुचित न होगा।

योग के प्रथम अंग यम के पांच उपभेद है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन सभी को सूत्रकार महर्षि पतजंलि ने अप्रत्यक्ष रूप से वैराग्य की साधना ही घोषित किया है, वे कहते हैं– **वितर्काः हिसासादयः कृत कारितानुमोदिताः लोभ, क्रोध, मोह, पूर्वकाः मृदुमध्याधिमात्राः दुःखाज्ञानानन्तकला इति प्रतिपक्षभावनम्।** (योगसूत्र 2/34) अर्थात् हिंसा आदि (हिंसा असत्य/छल अस्तेय ब्रह्मचर्य और परिग्रह) की उत्पत्ति लोभ क्रोध और मोह से होती है, इनके प्रथमतः इन प्रकार है, स्वयं किये गये, दूसरों को प्रेरित करके कराये गये और समर्थन करके इनके लिए प्रोत्साहन द्वारा तथा पुनः इनके तीन–तीन भेद इनके मृदु मध्य और अधिमात्र (उग्र) इनके दुःख अज्ञान आदि उपनन्त फल हो सकते है। अतः इन्हें प्रतिपक्षी अर्थात् योग साधना का विरोधी मानना चाहिए। क्योंकि हिंसा कि उत्पत्ति लोभ आदि के द्वारा होती है, अतः इनको (लोभ आदि को) सम्पूर्णतया दूर किये बिना हिंसा आदि की भावना को मिटाया नहीं जा सकता इसलिए महर्षि पतजंलि की अहिंसा आदि यमों के पालन निर्देश सूचित करता है कि वे योग साधक के चित्त से लोभ आदि की निवृत्ति आवश्यक मानते है और लोभ मोह की निवृत्ति को ही तो वैराग्य माना जाता है। योग के आठ अंगों में यमों को सर्वप्रथम रखने का प्रयोजन भी यही प्रतीत होता है कि पतजंलि की दृष्टि से लोभ आदि की निवृत्ति अर्थात् वैराग्य सर्वाधिक प्रधान हैं, महत्वपूर्ण है और इनकी साधना के क्रम में उपेक्षा का किचिंत मात्रा में ही भी स्थान अर्थात् देशकाल आदि की परिधि नहीं चाहिए। इसलिए उन्होंने महाव्रत कहा है **"ते जति का समयान्वच्छिताः सार्वभौमाः महाव्रतम्** (यो.सू. 2/31)"

आध्यात्मिक पथ पर प्रगति करने के लिए व्यक्तित्व में कुछ मूलभूत सद्गुणों को विकसित करने की आवश्यकता होती है। ये सद्गुण क्या है, तथा इनको व्यावहारिक जीवन में कैसे अपनाया जा सकता है, इस विषय में अष्टांग योग अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इत्यादि कुछ ऐसे विषय है जिनकी स्पष्ट जानकारी अधिकांश साधकों का नहीं होती। साथ ही लोगों के मन में यह भ्रम भी है कि इन्हें जीवनान्तर्गत क्रियाओं में रूपान्तिरत करना लगभग असंभव है। अतः अष्टांग योग व्यावहारिक मार्ग दर्शन देते हुए इन सद्गुणों को मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों के स्तर पर कैसे अपनाया जाय इस दिशा में भी गहन अन्तर्दष्टि प्रदान करता है।

उपर्युक्त विवरण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचना अनुचित न होगा कि अष्टांग योग अर्थात् योग का आठ अंगों में विभाजन चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए बतायी गयी अभ्यास वैराग्य साधना की व्याख्या या विस्तार है, और आसन, प्राणायाम, धारणा ध्यान तथा समाधि अभ्यास साधना के एवं यम–नियम और प्रत्याहार वैराग्य साधना के अंग हैं। अभ्याय साधना के अंग आसन आदि उत्तरोत्तर के लिए पृष्ठ भूमि बनाते है अर्थात् प्रथम की साधना के बिना द्वितीय की साधना में, द्वितीय में सफलता प्राप्त किये बिना तृतीय की साधना में तृतीय में सिद्धि प्राप्त किये बिना चतुर्थ की साधना में

और चतुर्थ की साधना में पूर्णता के बिना अन्तिम समाधि की साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जबकि वैराग्य की साधना में परम्पर साध्य साधक भाव नहीं है, अपितु सभी में आसक्ति की लोभ और मोह की निवृत्ति आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ –

1. "योग पत्रिका", स्वामी केशवानंद, स्वामी केश्वानंद योग संस्थान, दिल्ली 2005
2. "सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य" स्वामी ज्योतिर्मयानन्द इन्टरनेशनल योग सोसायटी लालबाग लोनी गाजियाबाद 1998
3. नैतिक जीवन भाग 1, 2 युग निर्माण मथुरा 1999
4. व्यक्तित्व परिष्कार की साधना, श्रीराम शर्मा, आचार्य, युग निर्माण योजना विस्तार मथुरा 2009
5. नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियां, डॉ. सुरेन्द्र शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ
6. पतजंलि योग सूत्र, नन्दलाल दशोरा रणधीर प्रकाशन हरिद्वार 2003
7. पुरूषार्थ चदुष्टय, दार्शनिक अनुशीलन, डॉ. सुधार भटनागर विद्या विधि प्रकाशन खजूरी खारा, दिल्ली
8. व्याख्याकारों की दृष्टि से पातंजल योगसूत्र, डॉ. कुमारी विमला कर्णाटक।